Research Paper E-ISSN NO : 2455-295X | VOLUME : 10 | ISSUE : 11 | NOVEMBER 2024

आदिवासी उपन्यासों में निरूपित स्वावलंबनपरक स्त्री स्वातंत्र्य

डॉ. कुलदीप सिंह मीना [1] | इन्दु बाला कुमावत [2]

[1] सह आचार्य, हिन्दी विभाग, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर.

[2] शोधार्थी, हिन्दी विभाग, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर.

ABSTRACT:

भारतीय समाज की सकल जनसंख्या में लगभग साढ़े आठ प्रतिशत आदिवासी समुदायों का योगदान है। कृषि प्रधान भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था में आदिवासी स्त्री-पुरूषों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी उपन्यासों के विस्तृत कैनवास पर यथास्थान आदिवासी स्त्रियों के आर्थिक योगदान पर प्रकाश डालने वाले प्रकीर्ण संदर्भों की प्रचुरता देखी जा सकती है।

इस शोधपत्र में इस बात पर विचार किया गया है कि पारंपरिक तौर पर घर-गृहस्थी एवं कबीले-समुदाय में स्वावलंबी आदिवासी स्त्रियों के आर्थिक स्वातंत्र्य पर वर्तमान युगीन बाह्य कारकों यथा कारखानों, सड़कों, बांधों एवं अन्य भौतिक विकास-प्रक्रियाओं का किस प्रकार से प्रभाव झलकता है और हिन्दी के आदिवासी उपन्यासकारों ने आदिवासी नारी अस्मिता के सवालों को उनके स्वावलंबनपरक आर्थिक स्वातंत्र्य से किस प्रकार जोड़कर आदिवासी विमर्श के साथ ही साथ स्वस्थ स्त्री-विमर्श की दृष्टि का परिचय दिया है।

KEYWORDS:

खासी समुदाय, शौका, जेठोरा, नीलगिरी, टोडा, मिथुन, थारू, चिट्टापाड़ा, बुन्देलखण्ड, मिनाम, वराह पूजा, संथालिनों, मुर्ग-बलि, चर्च, बंधुआ विचार, लाल लकीर ।

PAPER ACCEPTED DATE:	PAPER PUBLISHED DATE:
28th November 2024	30th November 2024

प्रस्तावना

स्त्री समाज को आधी दुनिया कहा जाता है। उसे उतनी ही समान मात्रा में आर्थिक स्वातंत्र्य मिलना चाहिए परंतु व्यावहारिक तौर पर ऐसा नहीं हो पाया है। राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है- "स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ आर्थिक स्वाधीनता है। नारी जब तक यह स्वाधीनता प्राप्त नहीं करती उसका यह दावा झूठा है कि वह स्वतंत्र है। किन्तु पुरूष यह नहीं चाहता कि नारी आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो।"[1]

साठोत्तरी लेखिकाओं के कथासाहित्य की विवेचना करते हुए डॉ. सुधा बालकृष्ण ने भी लिखा है- "स्त्री स्वातंत्र्य की पहली कड़ी आर्थिक स्वतंत्रता है। आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने पर ही नारी सच्चे अर्थों में स्वतंत्र हो सकती है। इस कारण आर्थिक स्वतंत्रता के लिए शिक्षित स्त्रियां पूर्णरूप से प्रयत्नशील रही। जब स्त्रियां आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर समाज में विचरण करने लगीं तो उनके समक्ष अनेक नयी समस्याएं उठने लगीं। उसके व्यवहार एवं चिंतन में व्यापक परिवर्तन होने लगा।"[2] यह बात आदिवासी समुदायों के स्त्री वर्ग पर भी लागू होती है। उनके आदिवासी उपन्यासों में स्त्रियों को उपलब्ध आर्थिक स्वातंत्र्य को कायम रखने के लिए भी अनेक समस्याओं से जुझते हुए दर्शाया गया है।

भारत के विभिन्न आदिवासी समुदायों में स्त्रियों की आर्थिक महत्ता पर दृष्टिपात करें तो अलग-अलग परिस्थितियां सामने आती हैं। बेड़िया, कंजर, कबूतरा, सांसी, नट एवं अन्य कतिपय घुमन्तू जनजातियों पर केंद्रित उपन्यासों से विदित होता है कि इन समुदायों का पुरूष-वर्ग स्त्री अस्मिता को ताक पर रखकर आजीविकोपार्जन कर रहा है। इसके विपरीत अधिकांश आदिवासी समुदायों में स्त्रियां शुचितापूर्वक आर्थिक स्वावलंबन के साथ जीवनयापन कर रही है।

पूर्वोत्तर की गारो एवं अन्य जनजातियाँ मातृसत्ता प्रधान सामाजिक संरचना पर पल्लवित है। खासी समुदाय में तो स्त्रियाँ व्यापार क्षेत्र में केन्द्रीय भूमिका निभा रही है। डॉ. गंगासहाय लिखते है- "यह काफी दिलचस्प तथ्य है कि आमतौर पर एक खासी गांव में जरूरत के सामानों की दुकानें औरतें चलाती है।"[3]

मध्य हिमालय की 'शौका', 'शऊका', 'जेठोरा', 'रावत', 'सरला', 'तोलछा', एवं 'भोटिया' जनजातियों में स्त्रियों की स्थिति सामान्यतया अच्छी ही होती है। हरिशचन्द्र उप्रेती के अनुसार, "पुरूषों का व्यापारिक कारणों से घर से अधिकांशतः बाहर रहने के कारण स्त्री स्वयं परिवार की सम्पूर्ण व्यवस्था करते हुए आर्थिक उत्तरदायित्वों का पूर्णरूप से निर्वाह करती है।"[4]

दक्षिणी भारत के नीलगिरी पर्वतीय क्षेत्र की तोडा जनजाति की अर्थव्यवस्था केवल भैंसपालन पर निर्भर है। इस जनजाति में यदि पुरूष तलाक देता है तो उसे महिला के संरक्षकों को भैंस देनी पड़ती है।[5] अर्थात् महिला के आर्थिक स्वावलंबन का आधार भैंस ही है इसलिए तलाक की परंपरा में भी उसकी आर्थिक सुरक्षा का ध्यान रखा जाता है।

अनेक आदिवासी उपन्यासों में जंगल से वनोपज संग्रहण एवं उपलब्ध कृषि भूमि पर मेहनत मजदूरी करने वाली स्वावलम्बी आदिवासी स्त्रियों के प्रेरणास्पद उल्लेख मिलते है। गाय, भैंस, मिथुन, सूअर आदि पशुपालन और मुर्गी, बतख, तीतर, बटेर इत्यादि पक्षीपालन के द्वारा भी आदिवासी स्त्रियां अपनी गृहस्थी को आर्थिक संबल प्रदान करती है।

'जंगल जहां शुरू होता है' उपन्यास में थारू जनजाति की स्त्रियां गौ-पालन में रूचि लेती है। थारू लोग गाय का दूध नहीं पीते है क्योंकि उनका मानना है कि बछड़े भूखे नहीं रहने चाहिए।[6] इसकी एवज में वे भैंस पालन करते हैं।

'लाल लकीर' उपन्यास की नायिका भीमे की घनिष्ठ सहेली सुरी की गोभक्ति का विस्तृत ब्यौरा दिया गया है-

"सुरी उस वक्त गायों के लिए चारा बना रही थी। उसके हाथ सने हुए थे। सुरी अपनी गायों का भरपूर ख्याल रखती। चिट्टापाडा ही क्या यहां आसपास के गांवों में कोई भी नहीं था जो सुरी की तरह अपने मवेशियों से प्यार करता। लोग जानवरों को यूं ही जंगल में चरने भेज देते लेकिन सुरी अपनी गायों के लिए बाजार से खास पशु आहार लाती। पौष्टिक और अपनी गायों का मनपसन्द। उसे जंगली घास में मिलाकर खास चारा बनाती। हफ्ते में कम से कम तीन बार।"[7]

इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिवासी समाज में गौपालन के माध्यम से स्त्रियां आर्थिक स्वावलंबन के धरातल पर गृहस्थी में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र की जनजातियां भी गौपालन के आर्थिक महत्व को समझती है। यहां की नर-नारियां बांधक्षेत्र की डूब में आने के कारण गांव से विस्थापित होकर भी गाय को बेचना

पसंद नहीं करती है। साहूकार के मांगने पर भी आदिवासी परिवार गाय नहीं बेचता है। माते के उत्तर है- "नहीं सरकार! फिर बच्चे दूध-छाछ को तरसेगें। एक गोमाता रहेगी तो कल को बैल भी दे सकती है।"[8]

इसी प्रकार अन्य कई आदिवासी उपन्यासों में इस पशुपालन से घनिष्ठ संबंधित आदिवासी नारी पात्रों की जीवटता के चित्रण मिलते है। कतिपय उपन्यासों में बकरी पालन, भेडपालन, मिथुन पालन एवं सूअर पालन में कार्यशील नारियों के उल्लेख है। 'जंगली फूल' उपन्यास एवं 'मिनाम' उपन्यास में 'मिथुन-पालन' का जिक्र हुआ है।

'जंगल जहां शुरू होता है' उपन्यास में एक मुगलकालीन जनश्रुति के अनुसार वराहपूजा की परंपरा का उल्लेख हुआ है जिसके अनुसार आदिवासी स्त्रियों (संथालिनों) ने सूअर के छैनों को आगे रखकर अपनी अस्मिता की रक्षा की थी।[9]

आदिवासी स्त्रियां अपने दैनिक उपयोग हेतु विभिन्न प्रजातियों की मुर्गियां भी पालती है। 'बस्तर-बस्तर' उपन्यास में लोकबाबू ने स्त्रियों द्वारा मुर्गियों के पालन पोषण और व्यंजन बनाने का उल्लेख किया है।[10]

अन्य विभिन्न उपन्यासों में भी आदिवासी नारियों के द्वारा पक्षीपालन के आर्थिक महत्त्व एवं मुर्ग-बलि आदि परंपराओं का उल्लेख किया है।[11]

इसी प्रकार विभिन्न उपन्यासों में तेदुंपत्ता, महुआ-संग्रहण सहित वनोपज-संग्रहण, देशी शराब निकालना, छोटे-मोटे व्यापारिक कार्य एवं सरकारी-गैर सरकारी निर्माण कार्यों में मजदूरी, खदान-श्रम, चाय थड़ी लगाना आदि के द्वारा आर्थिक स्वावलंबन का संदेश देते हुए आदिवासी नारी-पात्रों के जीवन यथार्थ का चित्रण हुआ है।

आर्थिक स्वावलंबन की प्राप्ति इतना आसान नहीं है। अनेक आदिवासी स्त्रियों को विभिन्न कारणों से विस्थापन एवं पलायन के दौरान बहुधा नगरों कस्बों में घरेलू कामगार बनना पड़ा है। कुलीना कुमारी इन स्त्रियों के कठोर जीवन यथार्थ पर प्रकाश डालती है- "बडे शहरों में प्रायः आदिवासी लड़कियों को नौकरी प्राप्ति से पहले किसी एजेंसी में अपना रजिस्ट्रेशन करवाना पड़ता है। एजेंसी का सालाना शुल्क तथा लड़की की सैलेरी दोनों ही एजेंसी वाले की होती है, घरेलू कामगार महिला के हाथ कुछ भी नहीं आता।"[12]

अनेक आदिवासी उपन्यासों में मजबूरन बड़े शहरों में नौकरानी के रूप में पेट पालन करने वाली आदिवासी स्त्रियों के आर्थिक संघर्ष का चित्रण हुआ है। श्री सुधीर लिखते है- "घोषित रूप से संपन्न राज्यों की महिलाएं पलायन नहीं करती है। वे सम्मानजनक काम पाने आती है और दूसरी तरफ झारखंड जैसे राज्यों से आने वाली महिलाओं का शोषण होता है।"[13]

'धार' उपन्यास की मैना को शहर में मकान मालकिनों से 'काम' के बदले 'गालियां' तक सुनने को मिलती है। कोठियों के कुत्ते ही नहीं, कामुक पहरेदार नौकर भी उन पर खराब नजरें डाले रहते है।[14]

कुछ उपन्यासकारों ने आदिवासी स्त्रियों के आर्थिक स्वावलंबन को धार्मिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी दर्शाया है।

'काला पादरी' उपन्यास में तेजिंदर ने ईसाई बनने के बाद भी गुलामी और बेगारी के लिए विवश आदिवासी नारी-पात्रों के चित्रण किए हैं। खाखा को अपनी मां से पता चलता है कि चर्च ने उसके पुरखों को रोटी दी है तो उसे भी सेवा करनी चाहिए। खाखा कहता हैं- "चर्च मे तुम्हारे पिता व दादा को रोटी दी थी, काम दिया था और राजा की बेगारी से मुक्ति दिलवाई थी। इसीलिए तुम्हें अपना पूरा जीवन चर्च की सेवा में बिताना है। क्या यह एक तरह का बंधुआ विचार नहीं?"[15]

इसी प्रकार कुछ अन्य उपन्यासों में भी आदिवासी स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता में बाधक कारकों पर प्रकाश डाला गया है।

विभिन्न आदिवासी उपन्यासों में आदिवासी स्त्रियों को सामुदायिक जनचेतना कार्यक्रमों में शिरकत करते दिखाया गया है। 'लाललकीर' उपन्यास में फुलियाबाई सुदूर दुर्गम अंचलों में आदिवासी स्त्रियों के लिए सिलाई मशीन प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाती है।

अनेक उपन्यासों में आदिवासी आन्दोलनों में स्त्री-शक्ति के योगदान का उल्लेख हुआ है। श्री मिथिलेश ने लिखा है- "इनमें भारतीय समाज के पिछड़े वर्गों के कार्य-कारण भी मौजूद है। 'हूल' 'उलगुलान' आन्दोलन में स्त्री शक्ति की भूमिका को भी ये उपन्यास बखूबी रेखांकित करते हैं। किसान आंदोलन को भी देखें, जहां स्त्रियों ने सक्रियता दिखाई, वहां कामयाबी आसानी से मिली।"[16]

निष्कर्ष:-

भारत जैसे कृषि प्रधान देश के आदिवासी समुदायों में कृषि क्षेत्र ने, स्त्रियों को समुचित आर्थिक स्वातंत्र्य के अवसर उपलब्ध कराए हैं लेकिन औद्योगिक घरानों द्वारा वनभूमि के अधिग्रहण एवं बांध, सड़क आदि कई कारणों से विस्थापन के लिए विवश आदिवासी स्त्रियों का आर्थिक स्वातंत्र्य क्रमशः कमतर ही होता चला गया है।

REFERENCES

1. दिनकर, रामधारीसिंह; संस्कृति के चार अध्याय,

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1956, पृ.सं. 631

2. बालकृष्णन, डॉ. सुधा; नारीः अस्तित्व की पहचान

वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2013 पृ.सं. 17

3. मीणा, डॉ. गंगासहाय; आदिवासी और हिन्दी उपन्यास

अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2016 पृ.सं. 48

4. उप्रेती, हरिशचन्द्र; भारतीय जनजातियाँ: संरचना एवं विकास

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्र.सं 2002, पृ.स.61

5. मीणा, डॉ. गंगासहाय, वही, पृ.सं. 53

6. संजीव, जंगल जहां शुरू होता है (उपन्यास)

राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2000, पृ.सं. 25

7. जोशी, हदयेश; लाल लकीर (उपन्यास)

हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स (इंडिया), दिल्ली, पृ.सं. 59

8. जैन, वीरेन्द्र; डूब (उपन्यास)

वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1991, पृ. सं. 237

9. संजीव, जंगल जहां शुरू होता है, पृ.सं. 184-188

10. लोक बाबू; बस्तर-बस्तर (उपन्यास)

राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्र.सं. 2020 पृ.सं. 26

11. मीणा, डॉ. गंगा सहाय, वही, पृ. सं. 47 एवं 50

12. मीणा, डॉ. रमेशचन्द्र (संपा.) आदिवासी विमर्श

राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर पृ.सं.74

13. वही, पृ.सं. 78

14. संजीव, धार (उपन्यास)

लोकभारती पेपरबैक्स, दिल्ली प्र.सं. 1990, पृ.स.

15. तेजिंदर; काला पादरी (उपन्यास)

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2002, पृ.सं. 47

16. विश्वकर्मा, डॉ. विनोद (संपा.); हिन्दी उपन्यास और आदिवासी चिंतन पृ.सं. 29